10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 215

क्या राधाकृष्णन दार्शनिक थे?

अशोक वोहरा

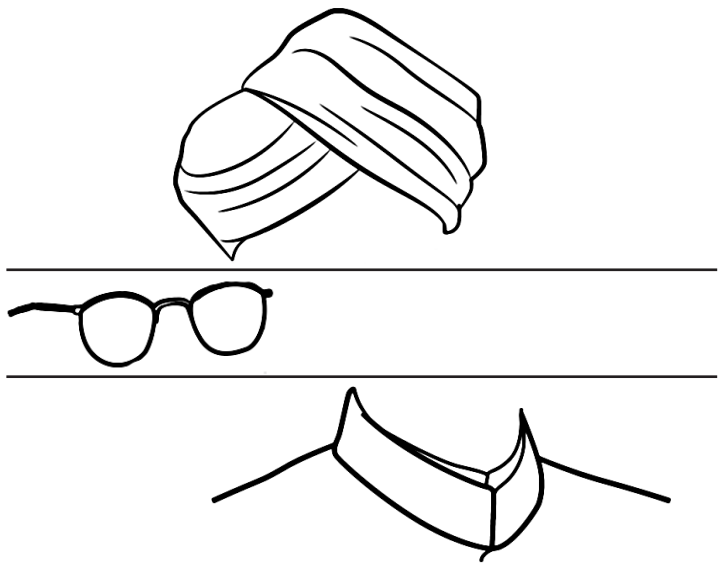

राधाकृष्णन के जीवनकाल और उनकी मृत्यु के बाद भी समकालीन दर्शनशास्त्र के जिज्ञासुओं में यह प्रश्न उठता रहा है कि 'क्या राधाकृष्णन ने किसी नई दर्शन-विधा की स्थापना की है?' क्या उन्हें रसेल, व्हाइटहेड, हाइडेगर, सार्त्र, और विटगेंस्टाइन जैसे दार्शनिकों के समकक्ष रखा जा सकता है? कुछ लोग यह मानते हैं कि राधाकृष्णन को इन दार्शनिकों के समकक्ष नहीं माना जा सकता। अन्य विद्वान इस प्रस्थापना को एक सिरे से नकारते हुए यह दावा करते हैं कि राधाकृष्णन 'बेशक समकालीन दार्शनिकों में अग्रणी दार्शनिक हैं, वे भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित एवं पठन-पाठन करने वालों में वरिष्ठतम हैं।'[1] दर्शन के जो शोधार्थी राधाकृष्णन को दार्शनिक मानने में झिझकते हैं उनका मुख्य तर्क यही है कि राधाकृष्णन ने विचार की उपलब्ध प्रणालियों से कोई अलग प्रणाली विकसित नहीं की, न ही कोई अलग 'वाद' स्थापित किया। उनके अनुसार राधाकृष्णन में कोई नवीनता नहीं है। वे उपलब्ध विचारों को ही समसामयिक भाषा में प्रस्तुत करते हैं। राधाकृष्णन के बारे में ये शोधार्थी ज़्यादा से ज़्यादा यह मानने को तैयार होते हैं कि वे दर्शन के इतिहासकार अथवा भारतीय दर्शन के एक इतिवृत्तकार हैं। ऐसा मानने वालों में भी कई का मत है कि भारतीय मूल ग्रंथों में प्रस्थापित अवधारणाओं और युक्तिओं को उन्होंने पूरी तरह समझा नहीं है और उनकी भ्रामक व्याख्या की है।

[1] के. सच्चिदानंद मूर्ति (1966) : 39.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 216

हिंदू धर्म को छोड़ कर बाक़ी धर्मों की उनकी समझ के बारे में राधाकृष्णन के आलोचकों का कहना है कि राधाकृष्णन को 'ईसाई धर्म की अवधारणाओं की कोई समझ ही नहीं थी। वे उनके प्रति उदासीन भाव रखते थे। उनके अपने दृष्टिकोण से नितांत भिन्न जीवन के प्रति दृष्टिकोण के बारे में वे कभी भी गंभीर नहीं थे।' उन्होंने अनेक बार ईसाईयत के बारे में लिखा है, लेकिन ये लेख ईसाईयत के बारे में उनकी अपनी समझ को दर्शाते हैं न कि ईसाईयत या ईसाईओं की समझ को। ईसाईयत की उनकी समझ बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में आई उदारतावादी नैतिकता, जिसके उदाहरण जीसस हैं, के सिद्धांतों पर आधारित है। यह समझ वैसी नहीं है जैसी ईसाईओं की होती हैं। इस प्रकार की व्याख्या के फलस्वरूप उनका यह कथन कि 'यदि पूर्व और पश्चिमी चिंतन में 'एक-दूसरे में मीन-मेख और कीचड़ उछालने की प्रवृत्ति का स्थान पारस्परिक गुणग्रहण (समालोचना) ले ले'[2] तो दोनों में एकता हो जाएगी' महिमामंडित हो जाता है। राधाकृष्णन को दार्शनिक न मानने वाले शोधार्थी यह भी कहते हैं कि उन्होंने इस्लाम और चीनी धर्म-दर्शन की अवहेलना की है। उन्होंने अपने दार्शनिक लेखन में हिंदू धर्म-दर्शन की सार्वभौमिकता, उसमें प्रतिपादित अनेकता में एकता सिद्धांत को अत्यधिक महिमामण्डित किया है। उन्होंने हिंदू धर्म-दर्शन में ऐतिहासिक युद्धों, विषमताओं और द्वेष-भाव के कारणों पर कोई ध्यान नहीं दिया, उनका कोई विवेचन नहीं किया।

राधाकृष्णन के तीव्र और गंभीर विरोधी तो बुद्धिवादी रहे हैं। बुद्धिवाद के कट्टर समर्थक और अंतःप्रज्ञावाद एवं रहस्यवाद इत्यादि के घोर विरोधी लियोनार्ड वूल्फ़ राधाकृष्णन को एक ऐसा प्रखर, मेधावी लेखक मानता है जो नीरस प्राच्य रहस्यवाद को शुद्ध पश्चिमी बुद्धिवादी भाषा से अलंकृत कर देता है।[3] वुल्फ़ आगे कहते हैं कि 'वे भारत के अतिप्राचीन अथवा सिंसियस (c. 373 – c. 414) और जैकब बोएह्मे (1575-1624) के रहस्यवाद में कुछ भी नया नहीं जोड़ते।'[4] राधाकृष्णन द्वारा दी गई युक्तिओं पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं है। वे मूल रूप से संसार के अन्य रहस्यवादियों और अंतःप्रज्ञावादियों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों जैसी ही हैं। ये सभी युक्तियाँ 'इस निरपेक्ष कथन से प्रारंभ होती हैं कि अपरोक्ष प्रत्यक्ष और अंतःप्रज्ञा अकाट्य होती है और वे हमें पूर्ण अलौकिक सत्य से अवगत कराती हैं।'[5] वे निष्कर्ष निकालते हैं कि राधाकृष्णन का दर्शन 'केवल और केवल बौद्धिक बकबक ही है। वह बौद्धिकता से बग़ावत है।' वुल्फ़ के अनुसार बौद्धिक बकबक 'तात्त्विक बकबक' के समान है। ये दोनों समान इसलिए हैं क्योंकि 'ग़ैर-राजनीतिक चिंतन में ये तर्क को तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। तर्क को हेय मानते हुए उसे अंतःप्रज्ञा, जादूगीरी, और रहस्यवाद से प्रतिस्थापित कर देते हैं।'[6] अपनी आलोचना प्रमाणित करने के लिए वुल्फ़ का तर्क है :

> ... सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन अपने इस दावे कि रहस्यवादियों की अंतःप्रज्ञा अकाट्य होती है, के पक्ष में यह बेतुकी बात बताते हैं कि तर्कवादियों को अपने अपरोक्ष प्रत्यक्ष की अकाट्यता के

---

[2] ई.जे. शार्प (1973).

[3] *क्वैक क्वैक* : 184.

[4] वही : 185 .

[5] वही.

[6] वही : 160.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 217

> लिए दावा करना पड़ता है, उसका औचित्य देना पड़ता हैं।' सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अपरोक्ष प्रत्यक्ष की शक्ति का पता उस विस्मयकारी और जटिल ज्ञान से होता है जो ऐसे अपरोक्ष प्रत्यक्ष से हमें मिलता है। वे कहते हैं कि 'हमें निम्नलिखित तथ्यों का अपरोक्ष एवं तात्कालिक अनुभव से ही पता चलता है : 'जगत शुभ है', 'जगत आध्यात्मिक है', 'जगत एक अर्थ में वैयक्तिक हैं।' लेकिन प्रश्न यह है कि ये 'हम' कौन हैं? वैयक्तिक रूप से मुझे तो कोई ऐसा अनुभव नहीं हुआ है और इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि मुझे इस असाधारण रूप से अस्पष्ट कथन का अर्थ भी नहीं मालूम कि 'एक अर्थ में जगत वैयक्तिक है।' हज़ारों लोग मेरे वाली इसी मनःस्थिति में हैं; लेकिन उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सभी को इन तात्त्विक सत्यों का अपरोक्ष प्रत्यक्ष होता है। ... लेकिन जब राधाकृष्णन यह कहते हैं 'मुझे अपरोक्ष प्रत्यक्ष होता है कि जगत शुभ, आध्यात्मिक और एक अर्थ में वैयक्तिक है' तो वे कोई ऐसी बात कहते हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रुचिकर तो हो सकती हैं, लेकिन जिसका न तो परीक्षण किया जा सकता है, न ही कोई प्रमाण दिया जा सकता है और जिसमें कोई वैज्ञानिक, बौद्धिक या तात्त्विक रुचि नहीं हो सकती, और जिसका न कोई महत्त्व है। जब हम ये कहते हैं 'हम' का अर्थ है सभी, और सभी का यह अपरोक्ष प्रत्यक्ष कि जगत शुभ है — इस बात का साक्ष्य है कि जगत शुभ है तो हम शुद्ध तात्त्विक बक-बक के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।[7]

अतः वुल्फ़ के अनुसार अंतःप्रज्ञा द्वारा जिस ज्ञान पर राधाकृष्णन पहुँचते हैं, उसे न तो सिद्ध किया जा सकता है, न ही उसे संप्रेषित किया जा सकता है। राधाकृष्णन इस मत से सहमत हैं। वुल्फ़ कहते हैं 'फिर भी राधाकृष्णन ने अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें उन्होंने अंतःप्रज्ञा में विश्वास करने के अनेक तार्किक प्रमाण दिए और अपने ज्ञान को संप्रेषित करने के लिए हज़ारों-हज़ार शब्द लिखे।'[8] इसलिए वुल्फ़ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राधाकृष्णन की गिनती उन 'शक्तियों में की जानी चाहिए जो हमारी सभ्यता को तहस-नहस करने पर तुली हुई हैं।'[9]

अपने ऐसे आलोचकों को राधाकृष्णन का उत्तर यह है कि जो लोग केवल अस्थायी और क्षणभंगुर विषयवस्तुओं में उलझे रहते हैं और जो वस्तुवाद और अपनी व्यवहार-कुशलता के गर्व से ही गौरवान्वित होते हैं, वे पलायनवादी होते हैं। दर्शन कोई बौद्धिक मनबहलाव नहीं है। यह विवेक की खोज है। जीवन-शैली होने के कारण यह बेहद व्यावहारिक है। दर्शन तो आत्मा का उद्यम है। यह 'जगत की समस्या को जानने-समझने का मानवीय प्रयास है' या यह वास्तविकता के स्वरूप को जानने का उद्यम है और इसलिए इस पर 'संस्कृति और नस्लों का प्रभाव होता है।'[10]

राधाकृष्णन ने दो कारणों से 'प्रत्यात्मक ज्ञान' की महत्ता को कम नहीं समझा। प्रथमतः, 'प्रत्यात्मक ज्ञान' अंतःप्रज्ञा, अंतर्दृष्टि के लिए तैयारी है और उसके लिए अत्यंत आवश्यक है।[11] दूसरे,अपने समग्र अनुभव या दृष्टिकोण को हमें अभिव्यक्त करना होता है, उसका संप्रेषण करना होता

---

[7] वही : 187-188.

[8] वही : 191.

[9] वही : 192.

[10] सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1929) : 23.

[11] वही (1957).

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 218

है। दर्शन अंतःप्रज्ञा से प्राप्त अंतर्दृष्टियों की नुमाइश है। नुमाइश के लिए हमें उनकी अन्य लोगों को व्याख्या देनी पड़ती है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति या उसे सिद्ध करने के लिए हमें तर्क को सहारा लेना पड़ता है ताकि अन्य लोग इन अंतर्दृष्टियों की सत्यता के बारे में आश्वस्त हो सकें।'[12]

वुल्फ़ की उपरोक्त आलोचना से यह पता चलता है कि किसी दार्शनिक के चिंतन के मूल्यांकन की अनेक कसौटियाँ हो सकती हैं। वुल्फ़ के दृष्टिकोण के मुताबिक़ तो राधाकृष्णन ही नहीं, बल्कि बर्गसाँ, यास्पर्स, ब्युबर, मार्सेल, मार्टिन भी दार्शनिक नहीं कहलाएँगे। उपरोक्त दार्शनिकों के दृष्टिकोण से सी.डी. ब्रॉड, मूअर, कार्नेप, राईल और विटगेंस्टाइन को दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। जी.ई. मूअर ने यह स्वीकार किया था कि वे हेगेल को नहीं समझ पाते। प्राइस ने कई बार कहा कि वे ब्युबर के भाषणों का सिर-पैर नहीं समझ पाते। यास्पर्स और युंग ने तो ऐलान कर दिया था कि रसेल का दर्शन तो दर्शन ही नहीं है। इटली, फ़्रांस, और जर्मनी के साथ-साथ अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले कई अध्यापकों का यह मत है कि हाइडेगर, यास्पर्स और सार्त्र के विचार दर्शन की परिधि में नहीं आते। भाषा-विश्लेषक, दार्शनिक और अस्तित्ववादी गिलसन, मार्टेन, डिल्थी और ओर्टेगा गस्सेट को दार्शनिक मानने में सकुचाएँगे।[13] मैक्स ब्लैक, क्वाइन और उनके अनुयायियों को राधाकृष्णन, अरविंद, हेगेल, और कीर्केगार्द के विचारों में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगेगा, लेकिन उन्हें विटगेंस्टाइन की सरल-सी कोई छोटी टिप्पणी या अस्पष्ट कथन भी अतिमहत्त्वपूर्ण और गंभीर लगेगा। अतः, किसको कौन दार्शनिक कहेगा और किसके लेखन को वह महत्त्वपूर्ण कहेगा, या उसे उस लेखन से बौद्धिक संतुष्टि मिलेगी — यह उसके अपने दृष्टिकोण और रुचि पर निर्भर करता है। इसलिए, किसी दार्शनिक की कृति या किसी भी लेखन के मूल्यांकन के लिए कोई ऐसी कसौटी नहीं अपनानी चाहिए जो उसके लिए पूर्णतः अपरिचित हो, बल्कि हमें उसे ऐसी कसौटी पर परखना चाहिए जो उस लेखन की परंपरा से संबद्ध हो।

जे.एच. म्योरहेड के मत में बर्गसाँ और राधाकृष्णन युरोप और भारत में विचारों के अग्रणी हैं।[14] राधाकृष्णन की दर्शन को देन के बारे में जॉर्ज पी. कोंगेर लिखते हैं, 'राधाकृष्णन ने नित्य दर्शन की परंपरा में पूर्णतः अंतःप्रज्ञावादी प्रत्ययवाद का नया अध्याय विकसित किया है। रॉयस से कम गंभीर, ब्रैडले से कम सतर्क, हेगेल से कम दुर्बोध ढंग से वे आदर्शवाद के उद्गम को भारत के पुरातन चिंतन में सिद्ध करते हैं। उनसे तुलना करने पर हम पाते हैं कि यूकेन का दर्शन संकीर्ण है और कैसरेलिंग का दर्शन खोखला है। फ़िक्टे और शेलिंग के बाद इस प्रकार का कोई प्रेरणास्रोत नहीं हुआ है। राधाकृष्णन आत्म-दर्शन के सभी दार्शनिकों से कहीं आगे निकल गए हैं, और सभी प्रयोजनवादियों के जीवन-दर्शन को पीछे छोड़ गए हैं।'[15]

इ.स. ब्राइटमैन के अनुसार, 'हिंदू रहस्यवाद के सभी पहलुओं की वस्तुनिष्ठ रचनात्मक व्याख्या करने वाले दार्शनिकों में राधाकृष्णन अग्रणी हैं। ... आधुनिक काल में वे रहस्यवाद के महानतम

---

[12] वही.

[13] देखें, के. सच्चिदानंद मूर्ति (1966) : 39-40.

[14] *हिब्बेर्ट जर्नल*, अक्तूबर, 1932.

[15] पॉल आर्थर शलिप (1952) : 413-414.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 219

दार्शनिक हैं।'[16] ए. न. मार्लो के मत में 'राधाकृष्णन, 'का एक विशिष्ट अद्वितीय दृष्टिकोण है, क्योंकि पश्चिम में एक बुद्धिजीवी और अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर रहने के कारण वे पश्चिमी और पूर्वी दर्शन में निपुण हैं। अतः, उनका दृष्टिकोण सकेंद्रित और आधिकारिक है।'[17]

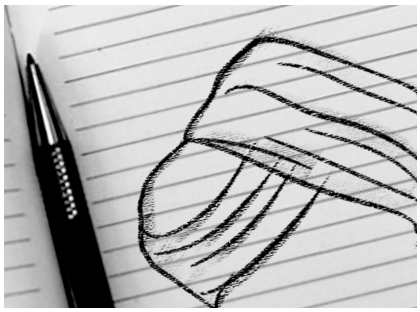

राधाकृष्णन ने नित्य दर्शन की परंपरा में पूर्णतः अंतःप्रज्ञावादी प्रत्ययवाद का नया अध्याय विकसित किया है। रॉयस से कम गंभीर, ब्रैडले से कम सतर्क, हेगेल से कम दुर्बोध ढंग से वे आदर्शवाद के उद्गम को भारत के पुरातन चिंतन में सिद्ध करते हैं। उनसे तुलना करने पर हम पाते हैं कि यूकेन का दर्शन संकीर्ण है और कैसरेलिंग का दर्शन खोखला है। फिशे और शेलिंग के बाद इस प्रकार का कोई प्रेरणास्रोत नहीं हुआ है।

जहाँ तक एक नए 'वाद' की स्थापना का प्रश्न है, यह सच है कि राधाकृष्णन ने किसी नए 'वाद' का प्रतिपादन नहीं किया है। लेकिन इसका कारण उनका भारतीय परंपरा से जुड़ाव है। भारतीय दर्शन आत्मनिष्ठ है। इसमें आत्मा को प्राथमिकता दी जाती है और वस्तु को गौण समझा जाता है और उसकी व्याख्या आत्मा के रूप में की जाती है। इसीलिए भारतीय-दर्शन का आधार श्रुति है, जबकि पश्चिमी दर्शन अनुभव और तर्क पर आधारित है। पश्चिमी दर्शन परंपरा में अपने अध्ययन के विषय के भिन्न-भिन्न आयामों को खोजा जाता है, और अध्ययन में प्रगति को अध्ययनकर्ता द्वारा खोजे गए परिणामों यानी उसके द्वारा प्रतिपादित विभिन्न 'वादों' पर परखा जाता है. लेकिन भारतीय दार्शनिक परंपरा में 'वस्तुतः' आत्मा के बारे में कुछ भी नया नहीं खोजा जा सकता; अनुसंधानकर्ता नए सिरे से आत्मा का अनुभव ही कर सकता है। अतः इस परंपरा में नए 'वाद' की खोज की कोई संभावना ही नहीं होती, क्योंकि इस परंपरा में नए सिरे से खोज का कोई अवकाश ही नहीं है। इस परंपरा में व्यक्ति की कोई गिनती ही नहीं है क्योंकि इसमें हममें से प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव या ज्ञानोदय के लिए अपने गुरु या श्रुति पर निर्भर होना पड़ता है। अनुसंधानकर्ता पहले से कही गई बात का केवल स्पष्टीकरण ही करता है; या फिर वह अपने अनुभव के संदर्भ में अपने गुरु के अनुभवों की व्याख्या अपने कालानुसार, बिना सार को खोए, अपनी वर्तमान प्रचलित शब्दावली और जीवन-शैली के अनुरूप करता है। भारतीय-दर्शन के स्वरूप को समझने के लिए हम *भगवद्गीता* के चौथे अध्याय का उदाहरण लेते हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि ज्ञान योग की परंपरा को भगवान् ने सर्वप्रथम विवस्वान को सिखाया था। विवस्वान ने उसे मनु को सिखाया, जिन्होंने उसकी शिक्षा इक्ष्वाकु को दी और अब वही शिक्षा अर्जुन को प्रदान की जा रही है। यहाँ मौलिकता का कोई दावा नहीं किया

[16] वही : 413-414.

[17] ए. न. मार्लो (1952).

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 220

जा रहा। इसी प्रकार *श्रीमद भागवतपुराण* और अन्य पुराणों एवं स्कंधों इत्यादि में प्राचीन शिक्षा और परंपरा किस प्रकार नए शिष्यों को प्रदान की जाती थी, के संदर्भ मिलते हैं।

राधाकृष्णन अपने द्वारा विरासत में प्राप्त उस परंपरा के प्रति सचेत थे जिसमें 'सभी महान गुरु अपने पूर्व गुरुओं द्वारा दी गई शिक्षा की अपने शब्दों में पुनर्व्याख्या करते हैं। वे मौलिकता का कोई दावा नहीं करते, अपितु यही दावा करते हैं कि वे प्राचीन सत्य की ही विवेचना कर रहे हैं। सभी शिक्षाओं को इसी कसौटी पर परखा जाता है।'[18] राधाकृष्णन ने अपनी सभी रचनाओं, विशेषतः अपनी तीन रचनाओं, *धम्मपद*, *प्रिंसिपल उपनिषद्स* और *ब्रह्मसूत्र* के अनुवादों और टीकाओं में ऐसा ही किया। उन्होंने *धम्मपद* के प्राक्कथन में अपने इस मंतव्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा, 'आज पारस्परिक सूझ-बूझ और एक-दूसरे की संस्कृति की समझ को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। बौद्ध मत के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ *धम्मपद* का यह अनुवाद संसार में आपसी समझ को बढ़ावा देने में सहायक होगा। इस पुस्तक की मुख्य स्थापना है कि मनुष्य का आचरण, उसका न्यायोचित व्यवहार, उसका चिंतन-मनन, बेकार पराभौतिक फालतू अटकलबाज़ी से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक लोगों को यह बात प्रभावित करती है। अपनी इच्छाओं को पूर्णतः दबाने से जितना क्षोभ होता है उतना ही उन्हें स्वतंत्र उड़ान देने से भी होता है, इस पुस्तक के इस सिद्धांत की पुष्टि आधुनिक मनोविज्ञान भी करता है। *धम्मपद* जैसी गंभीर पुस्तकों के सिद्धांतों को प्रत्येक पीढ़ी को अपनी वर्तमान समस्याओं के परिपेक्ष्य में समझना चाहिए।'[19]

आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या करते समय अपनी कृतियों में जिस बात का उन्होंने ख़याल रखा उसके बारे में राधाकृष्णन लिखते हैं, 'अपने लेखन में मेरा मुख्य मंतव्य यह रहा है कि सभी देशों और संस्कृतियों में एक ही सतत और सार्वभौम दार्शनिक धारा रही है। यह धारा उपनिषदों के ऋषियों-मुनियों और बुद्ध में, प्लेटो और प्लोटिनुस में, हिलेल और फिलो में, जीसस और पॉल में, और अन्य मध्यकालीन संतों और इस्लाम में पाई जाती है. इसी साझे दर्शन के कारण, न कि भारतीय परंपरा की किसी स्थानीय शाखा के कारण, द्वीपों और युगों में एकता है, और यही हमें वर्तमान स्थिति की निरर्थकता से बचाती है। केवल भारतीय दार्शनिक ज्ञान के एकाधिकार की बात करना ही निरर्थक है।'[20]

यद्यपि राधाकृष्णन मुख्यतः भारतीय-दर्शन के व्याख्याकार के रूप में उभरते हैं, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनके लेखन में कोई मौलिकता नहीं है। यह ठीक है कि अपने व्याख्यात्मक लेखन में वे मूल पाठ के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं करते। वे अपने काम को मात्र सामग्री इकट्ठा करने तक सीमित नहीं रखते। साधारणतः दर्शन की, लेकिन विशेषतः भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अपनी कृतियों की रचना करते समय वे सदैव यह भाव रखते थे कि 'मैं भूतकाल को कोई ऐसा जीवाश्म नहीं समझता जिसको कोई वैज्ञानिक अपने कुतूहल को शांत करने कि लिए ढूँढ़े। हमें अटकलबाज़ी से बचना चाहिए, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि भूतकाल के विचारकों की

---

[18] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज ऐंड राइटिंग्स* (1965), *मई 1962-मई1964* : 129.

[19] सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1954).

[20] पॉल आर्थर शलिप (1952) : 820.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 221

सोच भी उतनी ही गहरी थी, और उनके उद्देश्य भी वही थे जैसे हमारे अब हैं। वस्तुनिष्ठता का अर्थ कल्पनाशक्तिहीनता नहीं है। पश्चिम की तरह पूर्व में भी दर्शन के कई ऐसे इतिहासकार हैं जो पाठ के सार का केवल संक्षिप्त विवरण देते हैं। उनको पढ़ना मैडम तुसाद के संग्रहालय में जाने जैसा होता है। वहाँ जीवन के सिवाय सब कुछ होता है।'[21]

राधाकृष्णन ने अपनी कृतियों में आचार्यों के विभिन्न मतों, कभी-कभी तो व्याघाती और विरोधी मतों को, उद्धृत किया है और फिर उनमें से एक को स्वीकार करने के अपने तर्क दिए हैं। इसमें ही मौलिकता और नवीनता निहित है। उनके अपने शब्दों में, 'साधारणतः मैंने अपनी कृतियों में आचार्य शंकर के दर्शन की सराहना की है, लेकिन कई पक्षों पर मैंने शंकराचार्य से स्वतंत्र विचार भी विकसित किए हैं। मेरा प्रयत्न एक ऐसा दर्शन विकसित करना है जिसमें रूढ़िवादी ईश्वरमीमांसा न हो, जिसमें तार्किकता और अध्यात्मवाद एक साथ पाए जाते हों, जो तार्किक चिंतन पर न कि मतों पर आधारित हो।'[22].

राधाकृष्णन द्वारा भारतीय-दर्शन की रचनात्मक विवेचना और मूल्यांकन के उदाहरण के लिए हम प्रसिद्ध ब्रह्मवाक्य 'ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या' की उनकी व्याख्या को ले सकते हैं। अनेक रूढ़िवादी दार्शनिक अपने विवेचन में जगत को माया या स्वप्न या ब्रह्म का विवर्त समझते हैं। राधाकृष्णन इस विवाद में यह कह कर एक नया आयाम जोड़ देते हैं :

> जगत के ब्रह्म पर आधारित होने की व्याख्या में रज्जु में सर्प दिखने, और शंख में चाँदी का आभास होने जैसी उपमाओं का प्रयोग किया जाता है। इन उपमाओं का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि जगत एक स्वप्न है या कोई भ्रांति है, अपितु इन उपमाओं का उद्देश्य तो यह है कि ब्रह्म और जगत में ऐसा संबंध है कि ब्रह्म में कोई भी बदलाव हुए बिना जगत की सत्ता बनी रहती है। जगत ब्रह्म का कोई विवर्त नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो ब्रह्म, ब्रह्म नहीं रहता और उसमें विवर्त की संभावना बनी रहती। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म के एक भाग में तो विवर्त संभव है जबकि दूसरा भाग यथारूप बना रहता है। ब्रह्म का विभाजन असंभव है।[23]

राधाकृष्णन निरपेक्ष रूप से कहते हैं कि 'जगत माया नहीं है; वह शून्यता नहीं है क्योंकि वह ईश्वर की रचना है, इसलिए वह वास्तविक है। उसकी वास्तविकता ब्रह्म की वास्तविकता से पूर्णतः भिन्न है। केवल ब्रह्म ही अरचित दैवी वास्तविकता है; शेष सब रचित, पराधीन वास्तविकता है। माया के सिद्धांत का यही महत्त्व है। इसका अर्थ यह नहीं है कि लौकिक क्रिया कोई त्रासदी या असामान्यता है। जगत की वास्तविकता स्वयंभू नहीं है वह तो रचनाकार की सत्ता और विचार पर आधारित है। ईश्वर ने जगत के सत्ता में आने से पहले ही उसकी संकल्पना और इच्छा की थी।'[24]

जो लोग ये कहते हैं कि भारतीय दर्शन की मान्यता है कि जगत की सत्ता नहीं है; जगत माया है, और वह एक मृगमरीचिका कि सिवाय कुछ नहीं है, उन्हें राधाकृष्णन निम्नलिखित शब्दों में उत्तर देते हैं :

> (भारतीय दर्शन) जगत को न तो माया मानता है, न ही मृगमरीचिका। वह जगत को नकारता नहीं है। जगत की सत्ता तो प्रत्यक्ष है। उसे असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि वह इंद्रियगोचर है, वह

---

[21] वही : 821.

[22] वही : 820.

[23] वही : 800.

[24] वही : 41.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 222

> बोधगम्य है। उसे स्वप्न कहकर नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि जाग्रत और स्वप्निल अवस्था में मूल भेद अनुभवगम्य हैं इसलिए जगत को क्षणभंगुर नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि जगत स्थायी न हो, अनित्य न हो, लेकिन पदार्थ से जीवन और फिर चेतना से बुद्धि तक और वहाँ से ब्रह्म में विलीन होने तक की यह ऐतिहासिक प्रक्रिया तो इतिहास है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य ब्रह्मलोक या ईश्वर का साम्राज्य को प्राप्त करना होता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र निर्मल आत्मा बन जाती है।[25]

यह कहकर वे इस विवाद में एक नया आयाम जोड़ देते हैं। राधाकृष्णन की इस रचनात्मक व्याख्या के परिणामस्वरूप वे बौद्ध दर्शन को हिंदू दर्शन से पुनर्संबद्ध कर पाते हैं। इससे हिंदू धर्म के सुविज्ञ अनुयायियों के हृदयों में एक बार फिर गौतम बुद्ध राज्य करने लगते हैं। भारतीय-दर्शन के अनेक विद्वानों ने इसे राधाकृष्णन की एक महान् उपलब्धि माना है।[26]

राधाकृष्णन स्वयं अपने को भारतीय-दर्शन का एक ऐसा 'आधुनिक' व्याख्याकार मानते थे जिसने भारतीय दर्शन के मूल्यों और ग्रंथों की एक 'आधुनिक व्याख्या' की, और उसे समकालीन परिप्रेक्ष्य में संसार के समक्ष पेश किया। कुछ विद्वानों ने उनके लेखन पर यह आक्षेप किया कि न तो उन्होंने अपनी व्याख्याओं में उन्हें पूरी तरह समझा है, न ही वे अपने अनुवादों में मूल ग्रंथ के प्रति निष्ठावान रहे हैं। भारतीय-दर्शन के ग्रंथों की अपनी व्याख्या की इस आलोचना का उन्होंने स्पष्टतः इन शब्दों में उत्तर दिया, 'मेरा मानना है कि आधुनिकता का अर्थ है कि हमारी परंपरा में जो कुछ भी मूल्यवान है उसकी सुरक्षा करना और जो मूल्यवान नहीं है उसको छोड़ देना। ऐसी बहुत-सी बातें है जो हमें विरासत में मिली हैं, लेकिन वे न तो हमारे देश या संस्कृति को महिमामंडित करती हैं। वे मूल्यहीन हैं। हमारे द्वारा विरासत में मिली अनेक अन्य ऐसी बातें हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं और वे हमारे देश और संस्कृति को संपोषित करती हैं।'[27]

राधाकृष्णन ने अपने अनुसंधान को भारतीय-दर्शन के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उन्होंने व्यावहारिक दर्शन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण और दूरगामी योगदान किया। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक अवधारणाओं का गहन अध्ययन करके उनमें प्रयोग किए गए प्रत्ययों की भी आधुनिक पदावली में व्याख्या की। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता की इस सामान्य अवधारणा कि धर्मनिरपेक्षता धर्म की अवहेलना है, या धर्म के प्रति तटस्थ भावना है, को निरस्त कर दिया। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता को 'सभी धार्मिक मतों के प्रति, सभी उन बातों के लिए जिन्हें मनुष्य पवित्र मानते हैं, के प्रति आदर एवं सद्भावना के रचनात्मक रुख़' के रूप में परिभाषित किया।[28] उनके अनुसार इस आधार पर धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है कि 'धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है और उसको पाने के सभी

---

[25] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स* (1969), *सेकंड सीरीज़, मई 1964-मई 1967* : 228.

[26] देखें, डी. एस. सरमा (1964) : 617.

[27] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स* (1969), *सेकंड सीरीज़, मई 1964-मई 1967* : 226.

[28] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स* (1965), *मई 1962-मई 1964* : 129.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 223

रास्ते सही, वैध और एक समान हैं'।[29] इस अवधारणा को मानने के परिणामस्वरूप हम कह सकते हैं कि 'धर्म की इतनी प्रगाढ़ चिंता का कारण हमारी यह मान्यता है कि व्यक्ति ईश्वर को खोजने का चाहे जो भी पंथ अपनाए, हमें उसकी सराहना करनी चाहिए और उसे उसकी खोज के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।'[30] उनके अनुसार किसी भी सच्चे धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति, या समाज को उन सब बातों को आदरपूर्वक स्वीकार करना चाहिए जिन्हें 'कोई अन्य व्यक्ति पवित्र मानता है'। उन्होंने सिख गुरुओं की निम्नलिखित वाणी को धर्मनिरपेक्षता की सही परिभाषा माना : 'मंदिर मस्जिद तेरे धाम, ईश्वर अल्लाह तेरे नाम'। अब यह परिभाषा सर्वमान्य हो गई है।[31]

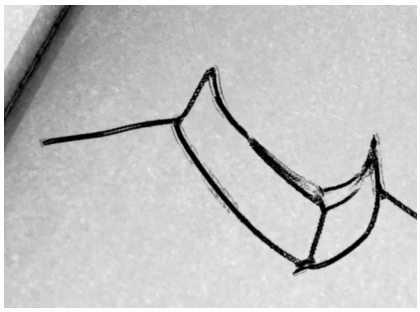

राधाकृष्णन स्वयं अपने को भारतीय-दर्शन का एक ऐसा 'आधुनिक' व्याख्याकार मानते थे जिसने भारतीय दर्शन के मूल्यों और ग्रंथों की एक 'आधुनिक व्याख्या' की, और उसे समकालीन परिप्रेक्ष्य में संसार के समक्ष पेश किया। कुछ विद्वानों ने उनके लेखन पर यह आक्षेप किया कि न तो उन्होंने अपनी व्याख्याओं में उन्हें पूरी तरह समझा है, न ही वे अपने अनुवादों में मूल ग्रंथ के प्रति निष्ठावान रहे हैं।

राधाकृष्णन की यह मान्यता थी कि प्रजातंत्र का आधार 'वैयक्तिक पवित्रता है, उसमें निहित दैवी संभावनाएँ हैं'।[32] किसी भी प्रजातांत्रिक समाज की पूर्वमान्यता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के समान पवित्र है, उसमें ईश्वर का निवास है, और हमें कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल हमें ही सर्वोच्च ज्ञान उपलब्ध है।'[33] उनकी मान्यता थी कि प्रजातंत्र 'विभिन्न मतों के प्रति सहिष्णुता है, संसार की विविधता को बढ़ावा देना है, और इस विविधता को मिटाना या नष्ट करना नहीं है।[34] उनके अनुसार प्रजातंत्र 'केवल राजनीकि व्यवस्था न हो कर' एक नैतिक प्रतिज्ञा है — यह प्रतिज्ञा है 'आशा के प्रति, मानव जाति की प्रगति और भविष्य में उनके विकास के प्रति'।[35]

साथ ही उनका यह भी मानना था कि प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के बारे में वाद-विवाद निरर्थक और कोरी बकवास है, यदि उससे न्यायोचित, समानता वाली समाज व्यवस्था की स्थापना न हो सकती हो। उनका आग्रह था कि हमें अपने समाज से मानवनिर्मित अन्याय और असमानताओं को बहिष्कृत कर

---

[29] वही : 430.

[30] वही.

[31] देखें, वही : 161, 231.

[32] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स* (1969), *सेकंड सीरीज़, मई 1964-मई 1967* : 225.

[33] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स* (1965), *मई 1962-मई 1964* : 75.

[34] वही.

[35] वही : 340.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 224

देना चाहिए और पुरुषों और महिलाओं को विकास और कुशल-क्षेम के समान अवसर प्रदान करने चाहिए।[36] उनका कहना था कि कोई समाज या राष्ट्र चाहे कैसी भी राजनीतिक व्यवस्था अपनाए, पर उसमें ऐसी अर्थव्यवस्था होनी चाहिए जिसमें धन-दौलत केवल कुछ ही हाथों में न सिमट जाए। उनके विचार में राष्ट्रीय संपदा में बढ़ोतरी और उसका समान वितरण अधिक महत्त्वपूर्ण था। इसमें भी वे समान वितरण, राष्ट्रीय संपदा में बढ़ोतरी से अधिक ज़रूरी मानते थे।[37] राधाकृष्णन इस प्रकार की अर्थव्यवस्था को 'समाज की समाजवादी पुनर्रचना' मानते थे। 'समाज की समाजवादी पुनर्रचना' से उनका मंतव्य था कि समाज की ऐसी पुनर्रचना की जाए जिसमें 'अमीरों और ग़रीबों के बीच की खाई को भर दिया जाए और इन दोनों को एकताबद्ध किया जाए'।[38] समाज की इस पुनर्रचना से अनिवार्यतः ऐसे समाज का जन्म होगा जिसमें भाईचारा, अवसर की समानता और सुख व्याप्त होंगे। ऐसे समाज की स्थापना के लिए उन्होंने अनेक सामाजिक नियंत्रणों की सिफ़ारिश की। उनका कहना था कि ये सामाजिक नियंत्रण सामाजिक क्रांति से ही आ सकते हैं क्योंकि 'जब तक लोगों के साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं किया जाएगा तब तक समाज में अशांति और उथल-पुथल मची रहेगी'[39] एवं 'सामाजिक समता राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है'। [40] इस सामाजिक क्रांति को लाने के लिए हमें हिंसक उपायों के बजाय केवल 'अनुनय-विनय और तर्क जैसी प्रजातांत्रिक विधियों का उपयोग करके शांतिपूर्ण ढंग से लोगों के विचारों में बदलाव लाना होगा'।[41] उनका यह भी मानना था कि यह बदलाव स्वयं ही नहीं आ जाएगा। उन्होंने नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए व्यक्तियों को, समाजों को, और राष्ट्रों को सचेत प्रयास करने के लिए वकालत की। मार्क्स के समान वे भी इस तथ्य के प्रति सचेत थे कि 'कठिनाई यह है कि सदियों से हमने इन आदर्शों की शिक्षा दी है लेकिन इस पर कोई क्रियान्वयन नहीं किया है।'[42] वस्तुवादी न होकर के आदर्शवादी और एक सच्चे कर्मयोगी के समान उन्होंने तर्क दिया कि 'स्थितियाँ अपने आप सुधरती नहीं हैं। हमें अपना भविष्य बनाने कि लिए कठोर कर्म करना पड़ता है — कुरु पौरुषं आत्म शक्तयः।'[43]

दर्शनशास्त्री कहलाने के सभी आयामों पर इतनी मज़बूत स्थिति में होने के बावजूद राधाकृष्णन ने कभी-भी अपने निंदकों को नहीं लताड़ा। बिना उन्हें लताड़े या उनकी बात का खंडन किए एक ऋषि की भाँति उन्होंने स्वीकारा कि 'मैं अपनी कमज़ोरियों के प्रति सचेत हूँ। मैं एक आम मनुष्य हूँ, मैं यह भी नहीं जानता कि मनुष्य होना मुझे पसंद है कि नहीं।'[44] दार्शनिक चर्चा में वे सदैव खुलेपन, असहमति और आलोचना को प्रोत्साहित करते थे, क्योंकि वे दर्शन को कोई बौद्धिक काम-काज मानने की बजाय उसे विवेक की खोज मानते थे। उनका कहना था :

---

[36] वही : 22, 83, 128, इत्यादि.

[37] वही : 72.

[38] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स, सेकंड सीरीज़, मई 1964-मई 1967*, नई दिल्ली, 1969 : 233.

[39] *प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स, मई 1962-मई1964,*पब्लिकेशन डिवीज़न, नई दिल्ली, 1965 : 21.

[40] वही : 71.

[41] वही : 112.

[42] वही : 133.

[43] वही : 114.

[44] पॉल आर्थर शलिप (1952) : 817.

10ashok_naresh_Layout 1 9/15/2021 2:55 PM Page 225

अनेक ग़लतियाँ करने के बाद हमें विवेक प्राप्त होता है। ग़लतियों का निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद ही हम सच्चाई को जान पाते हैं। ... आध्यात्मिक जीवन की माँग है कि हम बौद्धिक जीवन पर कोई बंदिश न रखें। हमें यह शर्त नहीं रखनी चाहिए कि हमारे धार्मिक विश्वासों को विज्ञान के निष्कर्षों से सुसंगत होना चाहिए। यदि निष्कपट बुद्धि के निरीक्षण एवं परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर की सत्ता नहीं है तो उसे यह मानने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। विवेक या अंतःकरण एक अनिवार्य ज़रूरत है। अपने कर्मों में हमें हमेशा अपने विवेक या अंतःकरण का अनुगमन करना चाहिए न कि दूसरे लोगों के विवेक का। व्यक्ति और समाज में वृहत सत्य या ज्ञान की प्राप्ति के लिए निरीश्वरवाद एक अत्यावश्यक साधन है। कभी-कभी ईश्वर को पाने के लिए हमें ईश्वर की सत्ता को नकारना पड़ता है। शायद अनजाने में ही निरीश्वरवादी, ईश्वर के नाम पर ही विद्रोह करते हैं। घोर संशयवाद और उसको नकारने के बाद ही अंततः हम सत्य को जान जाएँगे।[45]

संदर्भ

ए. एन. मार्लो (1952), *राधाकृष्णन : एन एन्थोलजी, जॉर्ज अलेन ऐंड उनविन,* लंदन.

के. सच्चिदानंद मूर्ति (1966), 'ऐज़ फ़िलॉसफ़र', के. ईश्वर दत्त(सं.), *सर्वपल्ली राधाकृष्णन : अ स्टडी ऑफ़ द प्रेज़िडेंट ऑफ़ इंडिया,* पॉपुलर बुक सर्विस, नई दिल्ली.

जे.आर. हैंनल्स और ई.जे. शार्प (1973) (सं.), *हिंदुइज़म*, ऑरिएल प्रेस, न्यू कासेल ऑन टाईन, इंग्लैंड.

जे. एच. म्योरहेड (1932), 'द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ राधाकृष्णन', *हिब्बेर्ट जर्नल*, अक्तूबर.

डी. एस. सरमा (1964), *स्टडीज़ इन द रेनेसांस ऑफ़ हिंदुइज़म*, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, बनारस.

धम्मपद (1954), *भूमिका : सर्वपल्ली राधाकृष्णन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

*प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स, मई 1962-1964,*पब्लिकेशन डिवीज़न, दिल्ली, 1965.

प्रेज़िडेंट राधाकृष्णन्स स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स, सेकंड सीरीज़, मई 1964-1967, दिल्ली, 1969.

पॉल आर्थर शलिप (1954), द *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ सर्वपल्ली राधाकृष्णन,* ट्यूडर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यु यॉर्क.

लियोयार्ड वुल्फ़ (1937), *क्वैक, क्वैक*! होगार्थ प्रेस, लंदन.

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1929), *इंडियन फ़िलॉसफ़ी,* खंड 1, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

————————(1957), *ऐन आइडलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़,* बार्नेस ऐंड नोबल, लंदन.

[45] वही : 802-803.